International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 433-436

वर्तमान साहित्य और समाज निर्माण की भूमिका

डॉ. सतीश कुमार [1], डॉ. गम्भीर सिंह [2]

[1] व्याख्याता हिन्दी, श्री अग्रसेन महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर, राजस्थान, भारत।

[2] प्राचार्य, श्री अग्रसेन महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भरतपुर, राजस्थान, भारत।

सारांश

भारतीय साहित्य संकुचितता का नही, पूरी मानवता का साहित्य है। एक देश का नही, पूरे विश्व का साहित्य है। यह बन्धन का नही, मुक्ति का साहित्य है। घृणा का नही, आत्मीयता का साहित्य है।

साहित्य में ही समाज निर्माण की शक्ति होती है। कोई भी विचार शब्द में बंधकर भी स्थाई होता है। पीढ़ियों तक पंहुचता है। भावी पीढ़ी विगत की श्रेष्ठताओं के प्रकाश में अपना मार्ग बनाती है। यह निरंतरता ही उसे परम्परा का आकार देती है। श्रेष्ठता संस्कृति का अधिष्ठान बनती है। संस्कृति, साहित्य के अभाव में स्मृति के बियाबान में खो जाती है। कभी कभी विनष्ट भी हो जाती है। जिस देश का साहित्य नष्ट हो जाता है, उसकी संस्कृति स्वतः नष्ट हो जाती है।

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। एक ओर साहित्य का हित और सहित भाव समाज के लिए कल्याणकारी होता है, वही समाज का पारम्परिक आचरण साहित्य को शास्त्र की गरिमा प्रदान करता है। साहित्य को तात्कालिक सामाजिक संक्रमण प्रभावित तो करते हैं, परन्तु सर्जक जो समय और शास्त्र दोनों का ज्ञाता और दृष्टा होता है, वह हंस के नीर क्षीर विवेक की भांति सांस्कृतिक एवं असांस्कृतिक में से सांस्कृतिक को चुनता है और शब्द के बल पर समाज को देता है। वैदिक साहित्य के बाद का सृजित साहित्य इसका प्रमाण है।

उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी तो भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक समाज निर्माण की शताब्दी कही जा सकती है। इस शताब्दी ने स्वतन्त्रता के साथ–साथ समाज सुधार को भी संघर्ष का विषय बनाया। इस काल के साहित्य ने समाज जागरण के लिए कभी अपनी पुरातन संस्कृति को निष्ठा के साथ स्मरण किया है, तो कभी तात्कालिक स्थितियों पर चिन्ता भी गहराई के साथ व्यक्त की है।

आठवें दशक के बाद से आज तक के काल का साहित्य, जिसे वर्तमान साहित्य कहना अधिक उचित होगा, फिर से अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़, समाज निर्माण की भूमिका को वरियता के साथ पूरा करने में जुटा है। साहित्य होने के फलितार्थ को चरितार्थ करने में लग गया है। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता को, जिनने इतना उछाला, उनके लिए भी शिशु, कमल, भैरव, खोह, टूटी चप्पल और चश्में जैसे प्रतीक आज भी समझ से परे है। उस साहित्य को मरना ही था, जो कृष्ण को लम्पट बताये, राम का चरित्र हनन करे। 'हाथी घोड़ा पालकी', चुपास मारो दुलहिन' जैसी कविताएँ भारत की मनीषा को कब रास आने वाली थी। उपन्यासों का नग्न काम यर्थात जुगुप्सा जगाने लगा था। आश्चर्य उन समीक्षकों पर है, उन पत्रिकाओं पर है, जो ऐसे गर्हित साहित्य को उछालने में शब्दों और बुद्धि का अपव्यय कर रहे थे।

वर्तमान साहित्य मानव को श्रेष्ठ बनाने का संकल्प लेकर चला है। व्यापक मानवीय एवं राष्ट्रीय हित इसमे निहित है। साहित्यकारों में राष्ट्रीय स्तर पर हितावय एवं भयावह में अंतर करने की क्षमता ही नही, दृष्टि की स्पष्टता भी जगी है। सृजन आदर्शधारित हो, उद्देश्य पूर्णता एवं उपयोगिता की ओर मुड़ा है। मनुष्य का खंडशः नहीं, समग्र चिन्तन होने लगा है। असत का विरोध तथा सत की प्रतिष्ठा होने लगी है। शाश्वत मूल्य फिर से स्थान पाने लगे है। दुःखान्त की नहीं, सुखान्त की प्रतिष्ठा बढ़ी है। लगने लगा है यह भारतीय साहित्य है। भारतीयता इसमें प्रतिबिम्बित होने लगी है। वर्तमान के ये सभी साहित्यकार धन्यवाद के पात्र है। आवश्यकता यही है, गति त्वरित हो। साथ ही इसे समाज के सामने लाने के, प्रकाशन से लेकर समीक्षा तक के प्रयत्नों में तेजी तथा सार्थकता आये। पत्र पत्रिकाओं का प्रभाव क्षेत्र बढ़े।

मूल शब्द: सामाजिक संक्रमण, पुरातन संस्कृति

प्रस्तावना

समाज निर्माण की पृष्ठभूमि में समान आचार विचार, समान भाषा साहित्य तथा समान सांस्कृतिक आध्यात्मिक सोच कार्यरत रहते है। समाज ऐसे ही व्यक्तियों का सामुदायिक स्वरूप है। प्रारम्भ में इनका एक साथ रहना आवश्यक होता है। कालान्तर जब जीवन पद्धति रूढ़ हो जाती है, तब इनका पृथक पृथक निवास भी इनकी सामाजिक एकता को विश्रृंखलित नही कर पाता। आज तो विज्ञान ने पूरे भू मण्डल को एक विश्व ग्राम में बदल दिया हैं। संचार माध्यमों ने उनकी दूरियों को निकटता में बदल दिया है। पूरे विश्व में फैल कर भी समाज एकता के सूत्र में बंधा चलता है। यह सही है क्षेत्र, रंग, नस्ल, भाषा, प्रान्तादि भी व्यक्तियों को अपने पाश में बांध, उन्हे एक समाज घोषित करते है, परन्तु ऐसा विभाजन न तो स्थायी होता है और न सुदृढ़। ये विभेद तो भौगोलिक, तात्कालिक या निसर्ग प्रदत्त होते है। स्थायी एवं सुदृढ़ समाज की निर्मिति में उसका सांस्कृतिक आध्यात्मिक अधिष्ठान ही मुख्य है। ऐसा निर्मित समाज न क्षेत्र देखता है न रंग, न भाषा देखता है न नस्ल। न देश देखता है न प्रदेश। संस्कृति के मंच पर आकर सब एक हो जाते है। सारे विभेद वहाँ तिरोहित हो जाते है। धार्मिक कट्टरता ने अवश्य अपना विद्रूपित रूप उद्धाटित किया है। वहाँ प्रेम के स्थान पर घृणा पनपी हैं। सौहार्द का स्थान आतंक ने ले लिया हैं। विश्व

में शाक्ति सन्तुलन बढ़ाने की होड में धर्मान्तरण किया जा रहा है। विनाशकारी आण्विक आयुधों का निरन्तर हो रहा विकास पूरे विश्व को भयाक्रान्त किये है। वहाँ लोकतांत्रिक मूल्यों तथा मानवधिकारों की गूंज होनी थी, वहीं आज आतंक और दादागिरी का वीभत्स रूप देखने को मिल रहा है।

भारत ही विश्व में एक ऐसा देश है, जहॉ व्यक्ति और समाज दोनो को स्वतन्त्रता से जीने की पूरी स्वतन्त्रता है। यहाँ कट्टरता न तो धर्मों मे है, न जातीय सामाजों में। रंग और नस्ल का भेद भी यहाँ नही है। भाषायी एवं प्रादेशित कट्टरता भी नही है। विश्व के अन्य भागों से, जो कट्टरतावादी घुस आये है, वे ही अपवाद कहे जा सकते है। भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है। यही वे देश हैं, जिसने सम्प्रदायों, संकुचितताओं, कट्टरताओं से ऊपर उठ, आत्मिक एकता के आधार पर समरसता, समानता तथा सौहार्द का संदेश दिया है। कट्टरतावादियों को भी आज यही जीना सिखा रहा है। इसकी पृष्ठ भूमि में यहाँ का आध्यात्मिक चिंतन तथा इसी चिन्तन के आधार पर लिखा साहित्य है, जो आने वाली पीढ़ियों का मार्ग दर्शन करता चला आ रहा है। जो प्रकाश का नन्हा दीप बनकर पग पग पर खड़ा है। ''भारतीय साहित्य संकुचितता का नही, पूरी मानवता का साहित्य है। एक देश का नही, पूरे विश्व का साहित्य है। यह बन्धन का नही, मुक्ति का साहित्य है। घृणा का नही, आत्मीयता का साहित्य है। यह सही है, अनुप्रवेशी आधे अधूरे साहित्य ने यहां विभेद के बीज बोये हैं। भौतिक यर्थाथवादी साहित्य ने आत्मिक मूल्यों को नकारा है। वर्गवादियों ने आदमी आदमी के बीच द्वेषता के बीज बोये है। आस्था के स्थान पर अनास्था ने, आत्म के स्थान पर अस्तित्व ने तथा शाश्वतता के स्थान पर क्षण ने पैर पसारे है।''[1] बाह्यगत विचार कभी वहाँ से अकेला नही आता। अपने साथ, गिरोह निर्मित कर सकने की शक्तियाँ भी लेकर आता है। ये गिरोह 'अहो रूपं अहो ध्वनिः' के बल पर ऐसा वातावरण निर्माण कर दिखाते है, जिससे सामान्यजन आकर्षित हो, अपना पथ भूल, उन शक्तियों से लाभान्वित होने में ही अपना कल्याण समझता है।

साहित्य में ही समाज निर्माण की शक्ति होती है। कोई भी विचार शब्द में बंधकर भी स्थाई होता है। पीढ़ियों तक पंहुचता है। भावी पीढ़ी विगत की श्रेष्ठताओं के प्रकाश में अपना मार्ग बनाती है। यह निरंतरता ही उसे परम्परा का आकार देती है। श्रेष्ठता संस्कृति का अधिष्ठान बनती है। संस्कृति, साहित्य के अभाव में स्मृति के बियाबान में खो जाती है। कभी कभी विनष्ट भी हो जाती है। जिस देश का साहित्य नष्ट हो जाता है, उसकी संस्कृति स्वतः नष्ट हो जाती है। संस्कृति की संजीवनी साहित्य है। समाज साहित्य के माध्यम से अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करता हैं और अपनी निर्मिति को पुष्ट करता चलता है। ''साहित्य संस्कृति का संवाहक है जो साहित्य अपनी संस्कृति से कट जाता है वह अपनेपन की संज्ञा से च्युत हो जाता है। अपना साहित्य वही है जो अपनी संस्कृति को शब्दायित करता है। अपने श्रेष्ठ चरित्रों को सामने रखता है। जीवन के शाश्वत मूल्यों का स्मरण कराता है। सच में ऐसा ही साहित्य कालजयी होता है, जो कालान्तर में शास्त्र बनकर जीवित रहता है।''[2]

भारत एक अतीव प्राचीन राष्ट्र है। वेद इसके उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है। वैदिक संहिता अर्थात् ज्ञान की मन्जूषा। इसमें आत्म ज्ञान है तो लौकिक कर्म काण्ड भी है। मीमांसा नाम से जो जाना जाता है। यजुर्वेद में लोक कल्याणकारी यज्ञ मंत्र है। सामवेद में गीतात्मक तत्व है। अथर्ववेद में पूरा लोक व्यवहार का ज्ञान निहित है। शतपथ ब्राह्मण सृष्टि संरचना का रहस्त छिपायें है। आरण्यक और उपनिषद दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करते है। ऋग्वेद में जहाँ ऋषियों की प्रार्थनाएँ हैं, वही तत्कालीन इतिहास भी है। ज्योतिष है। संगीत है। आयुर्वेद है। इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। इसी ज्ञान के अनुकरण से आज तक भारतीय समाज अपनी संस्कृति, अपने आचार विचार, अपने अध्यात्म ज्ञान के कारण विश्व में जाना जाता है। यह भी सही है कि आचरण, अनुभव तथा अनुभूतियाँ पूर्व जन्मा है। साहित्य इन्हें ही शब्द में बांधकर भावी पीढ़ी को सौंपता है। भावी पीढ़ी इनका अनुसरण करती हुई एक समाज विशेष का निर्माण करती है।

''साहित्य नव निर्माण तथा पुनर्निमाण दोनों करता है। नियामक और निर्णायक दोनों भूमिकाओं में यह जीता है। इसमें मनोभावों का प्राधान्य होने से इसका वास्तविक स्वरूप वैश्विक हो जाता है। यह सही है, साहित्य आदेशात्मक या दण्डात्मक भूमिका तो नही निर्वाहित करता, परन्तु इसकी प्रभावात्मक क्षमता प्रच्छन्न एवं परोक्ष रूप से सर्वाधिक प्रबल होती है। मानव मन को इस तरह प्रभावित करता है कि वह तत्काल उस अनुरूप जीवन ढ़ालने को कटिबद्ध हो जाता है। साहित्य की प्रकृति वास्तव में उस शमी वृक्ष की भांति होती है, जो बाहर तो शीतल होती, परन्तु भीतर आग्नेय क्रान्ति का बड़वानल छिपाये होती है। इसकी प्रेरणा क्षणिक या सीमित नही होकर सार्वभौम और सार्वकालिक होती है।''[3]

साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। एक ओर साहित्य का हित और सहित भाव समाज के लिए कल्याणकारी होता है, वही समाज का पारम्परिक आचरण साहित्य को शास्त्र की गरिमा प्रदान करता है। साहित्य को तात्कालिक सामाजिक संक्रमण प्रभावित तो करते हैं, परन्तु सर्जक जो समय और शास्त्र दोनों का ज्ञाता और दृष्टा होता है, वह हंस के नीर क्षीर विवेक की भांति सांस्कृतिक एवं असांस्कृतिक में से सांस्कृतिक को चुनता है और शब्द के बल पर समाज को देता है। वैदिक साहित्य के बाद का सृजित साहित्य इसका प्रमाण है। वाल्मीकि ने दशरथ पुत्र श्रीराम का मर्यादा पुरूषोत्तम चरित्र चुनकर जिस महाकाव्य रामायण को छन्द बद्ध किया, वह आज भी समाज निर्माण की भूमिका निर्वाहित कर रहा है। महर्षि वेद व्यास ने महाभारत एवं श्रीमद्भागवत के माध्यम से जिस योगेश्वर चरित्र की सृष्टि की, उसने इन ग्रन्थों को भारतीय संस्कृति का प्रतीक ग्रन्थ बना दिया। महात्मा बुद्ध ने तो अपने ज्ञान से जिस बौद्ध साहित्य का निर्माण किया, वह कालान्तर में राजधर्म बनकर पूरे एशिया का धर्म बन गया। जातकों ने जिस ज्ञान की प्रस्तुति दी, उसने सम्यक आचरण, सम्यक चरित्र तथा सम्यक ज्ञान वान समाज की निर्मिति का एक नया इतिहास रचा। बौद्ध समाज जब ज्ञान–पथ से भटका तो आदि शंकराचार्य उसी पुराने वैदिक साहित्य को लेकर, भारत के आसेतु हिमाचल पद यात्री बन गये। चार ऐसी ज्ञान पीठें निर्मित की, जिन्होंने भारतीय समाज को अपना वास्तविक प्रकाश दे, पुनः सांस्कृतिक समाज के निर्माण की महती भूमिका यशस्विता के साथ सम्पन्न की। आदि शंकराचार्य का यह देश उसी भांति ऋणी, जिस भांति वैदिक ऋषियों, रामायण रचयिता वाल्मीकि, महाभारत एवं श्रीमदभागवत रचयिता महर्षि वेदव्यास का ऋणी है।

''उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी तो भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक समाज निर्माण की शताब्दी कही जा सकती है। इस शताब्दी ने स्वतन्त्रता के साथ–साथ समाज सुधार को भी संघर्ष का विषय बनाया। इस काल के साहित्य ने समाज जागरण के लिए कभी अपनी पुरातन संस्कृति को निष्ठा के साथ स्मरण किया है, तो कभी तात्कालिक स्थितियों पर चिन्ता भी गहराई के साथ व्यक्त की है।''[4] राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' ही इसका श्रेष्ठतम उदाहरण कहा जा सकता है। जब वे कहते हैं –

''हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ विचारे आज मिलकर ये समस्याएं सभी।
भारत कहो तो, आज तुम क्या हो वहीं भारत अहो
हे पुण्यभूमि कहां गई है वह तुम्हारी श्री कहो।''[5]

इनसे पूर्व सांस्कृतिक पुनरूत्थान वाद की भूमिका बनाई थी, आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने। बंगाल के ब्रह्म समाज के केशवचन्द सेन और बंगाल के ही स्वामी विवेकानन्द ने, जिन्हे हम भारत का सांस्कृतिक राजदूत कह सकते है। एक महान राष्ट्रीय संत कह सकते है। रवीन्द्रनाथ टेगौर के साहित्य पर विवेकानन्द का प्रभाव देखा जा सकता है। रामकृष्ण आश्रम का प्रभाव ही हम महाप्राण निराला के साहित्य में देखते है। प्रसाद की कामयानी जहाँ मनोवैज्ञानिक है, वही शतपथ ब्राह्मण में वर्णित प्रलय और सृष्टि वाला प्रसंग भी सहेजे है, जो आदर्शरूपी श्रद्धा तथा यर्थाथ भौतिक बुद्धि रूपी इड़ा के द्वंद्व के माध्यम से आस्था की सृष्टि करता है। प्रसाद ने नाटकों के माध्यम से अपने श्रेष्ठ पुरातन का यशोगान पूरी निष्ठा के साथ किया है। यह परम्परा हम दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन से लेकर सोहनलाल द्विवेदी तक देखते है।

इस नव जागरणकाल में ही दुर्भाग्य से स्वतन्त्रता की त्वरित प्राप्ति की आकांक्षा वाले नेताओं एवं कवियों ने सन् 1917 की जारशाही के विरूद्ध बॉलशेविक क्रांति की सफलता से प्रभावित हो, अपने गांधीवादी भारतीय पद को छोड़, शान्ति के स्थान पर हिंसा की, बैलेट के स्थान पर बुलेट की, लोकतन्त्र के स्थान पर एकदलीय शासन व्यवस्था की, समन्वय एवं सौहार्द के स्थान पर वर्ग संघर्ष की बात साहित्य में लिखना प्रारम्भ कर, धर्म को अफीम कहना तथा पुरातन संस्कृति का उपहास उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें मार्क्स लेनिन ही नही, फ्रायड़, ऐंजिल तथा डार्विन जैसे विदेशी पंसद आने लगे। उनकी रीति नीति के गीत गाने लगे। आदमी को बन्दर का विकास मानने लगे। यह धर्मधारित समाज व्यवस्था पर अर्थ तथा कामाधारित अपसंस्कृति का आक्रमण था। ऐसे ही कुछ महानुभाव नये प्रयोगों के साहित्यिक पुरोधा बन जाने के लालची हो, पश्चिमी अस्तित्ववादी, कामवादी सोच लेकन साहित्य लिखने में उतरे। यह भी भारत की आध्यात्मिक संस्कृति पर अस्तित्व आधारित अपसंस्कृति का अनुप्रवेशी आक्रमण था। इन छद्म साहित्यिक आक्रान्ताओं ने साहित्य की इतनी दुर्दशा कर दी कि इन्हीं के सहयोगियों ने कविता को अकविता तथा कथा को अकथा या समान्तर कथा तक पँहुचा दिया और पाठक ढूँढ़ने लगे। पश्चिमी स्वच्छन्दतावाद के अनुकरण पर आधुनिक हिन्दी साहित्य में छायावादी रहस्यवादी युग आया। यह वस्तुतः भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से पलायन तो था, पर इसकी जड़े अवश्य भारतीय संस्कृति की उर्वरा भूमि में थी। ''रहस्यवाद ने छायावाद को रोमान्टिकता को अध्यात्म का वेदान्तिक आधार दिया। इस तरह रहस्यवादी साहित्य ने भले ही स्वतन्त्रता की आवश्यकता से पलायन कर, आन्तरिकता की गुहा में प्रवेश किया, पर संस्कृति के अधिष्ठान पर खड़ा होने से लोकप्रिय हुआ। साहित्येतिहास ने भी इसे स्वीकार कर स्थान दिया।''[6] गिरोहबन्दी समालोचना ने यहां भी उस काल की वन्दे मातरम् जैसी वन्दनाओं, 'हिमादि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयंप्रभा समुज्जवला पुकारती' जैसे प्रयाण गीतों ''मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक, मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाये वीर अनेक''[7] जैसे बलिदानी गीतों, 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाये एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये', प्राणों के लाले पड़ जाये, जैसे ओजस्वी गीतों, तथा 'वन्दना के स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो, हो जहाँ बलि शीश अगणित एक सिर मेरा मिलालो' जैसे समर्पण गीतों की अवलेहना की है। उस काल को स्वतन्त्रावादी युग न कहकर छायावादी युग कहा। क्या हम ये कहना चाहते है कि स्वतन्त्रता के लिए जहाँ हुतात्मा फांसी के फंदे चूम रहे थे 'सर फरोशी की तमन्ना है हमारे दिल में' गा रहे थे तब भारत को स्वच्छन्दतावादी रोमान्टिकता भा रही थी। स्वतन्त्रता के आग्नेय साहित्य के ठण्डा होते ही प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया। पर शताब्दी के छठे दशक तक आते आते इन थोथे संस्कृति ब्राह्य आन्दोलनों ने स्वतः दम तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। फलतः जीवित रहने के लिए एक नया नाम 'समकालीन साहित्य' देकर वही घुट्टी पिलाना प्रारम्भ किया। लघु पत्रिका आन्दोलन खड़ा कर मरणासन्न को जिन्दा रखने के प्रयत्न हुये, पर आठवें दशक में आते आते इन सब प्रयासों की हवा निकल गई। सप्तक समाप्त हुए। प्रगतिशील, प्रगतिवाद, जनवाद जैसे मात्र लुभावने नाम अपना प्रभाव स्वतः खो बैठे। मैं यहां यह भी उल्लेख कर देने में संकोच नही करूंगा कि इन वादों ने, गांधीवाद को जिसे शब्द मिलने चाहिए थे, वे नही मिलने दिये। हाँ प्रगतिवाद जनवाद ने वंचितों, दलितों जैसे सर्वहाराओं को सम्बल देकर शोषण के महा प्रपंची भूत को भगाने की साहित्य के माध्यम से भरपूर चेष्टा की है। ''यदि इन्होने डॉ. रामविलास शर्मा की सांस्कृति नीति को अपना लिया होता, तो इनका इतिहास कुछ ओर ही होता। आठवें दशक के बाद से आज तक के काल का साहित्य, जिसे वर्तमान साहित्य कहना अधिक उचित होगा, फिर से अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़, समाज निर्माण की भूमिका को वरियता के साथ पूरा करने में जुटा है। साहित्य होने के फलितार्थ को चरितार्थ करने में लग गया है।''[8]

गीतों की ओर लौटने का जो सार्थक आन्दोलन चला है, उसने डबरालियों और जगूड़ियों द्वारा कविताओं का किया जा रहा गद्यात्मक विरूपण रोका है। मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' कविता को, जिनने इतना उछाला, उनके लिए भी शिशु, कमल, भैरव, खोह, टूटी चप्पल और चश्में जैसे प्रतीक आज भी समझ से परे है। उस साहित्य को मरना ही था, जो कृष्ण को लम्पट बताये, राम का चरित्र हनन करे। 'हाथी घोड़ा पालकी', चुपास मारो दुलहिन' जैसी कविताएँ भारत की मनीषा को कब रास आने वाली थी। उपन्यासों का नग्न काम यर्थात जुगुप्सा जगाने लगा था। आश्चर्य उन समीक्षकों पर है, उन पत्रिकाओं पर है, जो ऐसे गर्हित साहित्य को उछालने में शब्दों और बुद्धि का अपव्यय कर रहे थे।

वर्तमान साहित्य मानव को श्रेष्ठ बनाने का संकल्प लेकर चला है। व्यापक मानवीय एवं राष्ट्रीय हित इसमे निहित है। साहित्यकारों में राष्ट्रीय स्तर पर हितावय एवं भयावह में अंतर करने की क्षमता ही नही, दृष्टि की स्पष्टता भी जगी है। सृजन आदर्शधारित हो, उद्देश्य पूर्णता एवं उपयोगिता की ओर मुड़ा है। मनुष्य का खंडशः नहीं, समग्र चिन्तन होने लगा है। असत का विरोध तथा सत की प्रतिष्ठा होने लगी है। शाश्वत मूल्य फिर से स्थान पाने लगे है। दुःखान्त की नहीं, सुखान्त की प्रतिष्ठा बढ़ी है। लगने लगा है यह भारतीय साहित्य है। भारतीयता इसमें प्रतिबिम्बित होने लगी है। वर्तमान के ये सभी साहित्यकार धन्यवाद के पात्र है। आवश्यकता यही है, गति त्वरित हो। साथ ही इसे समाज के सामने लाने के, प्रकाशन से लेकर समीक्षा तक के प्रयत्नों में तेजी तथा सार्थकता आये। पत्र पत्रिकाओं का प्रभाव क्षेत्र बढ़े।

संदर्भ

1. साहित्य और समाज निर्माण की भूमिका (भाशा तक पहुँची वाक् की लोक यात्रा – लेख) – डा0 दयाकृश्ण विजय वर्गीय पृ.75

2. चक्रवाक् पत्रिका (त्रैमासिकी) अक्टूबर 2015 – मार्च 2016 – संपादक डा0 निषांत केतु पृ. 14
3. साहित्य और राश्ट्रबोध – डा0 कैलाष त्रिपाठी पृ. 76
4. भाशा के सवाल – डा0 इन्द्रनाथ मदान पृ.38
5. भारतभारती – डा0 मैथलीषरण गुप्त पृ.34
6. हिन्दी साहित्य के आधुनिक प्रतिनिधि कवि – डा0 कृश्णदेव षर्मा पृ.85
7. पुष्प की अभिलाशा – डा0 माखनलाल चतुर्वेदी पृ.21
8. चिन्तन – सृजन (त्रैमासिकी) अप्रेल – जून 2016 पृ.98